साहित्य-मणि-माला—मणि ५

# दूर्वा-दल

श्रीसियारामशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव ( झाँसी )

भाद्र-पूर्णिमा १९८६

प्रथमावृत्ति

मूल्य

॥=)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा साहित्य प्रेस,
चिरगाँव ( झाँसी ) में मुद्रित,
तथा साहित्य-सदन, चिरगाँव ( झाँसी )
द्वारा प्रकाशित ।

# विषय-सूची

| | |
|---|---|
| तुच्छ धूलि से बनी हुई | १ |
| भेंट | ५ |
| विनय | ७ |
| विश्वास | ८ |
| अभागा फूल | ११ |
| शरणागत | १२ |
| गृह-प्रदीप | १५ |
| अनुरोध | १८ |
| मृत्यु-भय | १९ |
| गूढ़ाशय | २१ |
| माली के प्रति | २३ |
| परीक्षा | २५ |
| कामना | २६ |
| सुजीवन | २८ |
| अपूर्ण यात्रा | २९ |
| सन्तोष | ३१ |
| लेखनी | ३३ |

सु-अवसर ३६
निर्विवेक ३७
असमय ३८
अनौचित्य ३९
कृतघ्न ४०
गत दिवस ४१
जननी ४४
तुलसीदास ४९
समीर के प्रति ५४
मूर्ति ५९
कोजागर पूर्णिमा ६४
घट ६८
वीणा ७२
कब ? ७८
पथ ८०
बाढ़ ८८
वृद्ध ९८
वर्ष-प्रयाण १०६

—

तुच्छ धूलि से बनी हुई दीना यह धरती,
पड़ी हुई थी विजन-बीच सूने दिन भरती ।
ऊष्मा का उत्ताप दिवा दे जाती सारा,
तमसा आती और ढाल जाती तम-धारा ।

अहा ! एक दिन दया तुम्हारी मैंने पाई,
ऊपर वह घन-घटा-रूप में दी दिखलाई ।
द्रवित हुए तुम, बरस पड़े बस सकरुण होकर,
मैं कृतार्थ हो गई मलिनता अपनी धोकर ।
छाकर करुणा-मेघ तुम्हारा घहरा ज्यों ही,
सहसा चारों ओर हुआ परिवर्तन त्यों ही ।
झुलसे-से जड़ शून्य ठौर पर सारे तन में
धूलि लेप कर, रुद्र भाव से थी नर्तन में
रत जो झंझा-वात, दौड़, रुक कर, चिल्ला कर,
स्निग्ध-शान्त हो उठी सरस सौरभ वह पाकर ।
विगत आप ही आप हुआ उत्ताप सभी का;
मृग-तृष्णा का जाल छिन्न हो गया कभी का ।
गूँज उठे अलि, कूक उठे कोकिल कुञ्जों में;
फूल फूल कर फूल उठे पादप-पुञ्जों में ।
सबका यह आनन्द-मधुर सौरभ कर संगी,
गन्धवाह बह चला तुम्हारी ओर उमंगी ।

जीवन-धन ले तोड़ तटों के बन्धन-भय को,
उमड पड़े सर-सरित् तुम्हारे वरुणालय को ।
उछल उछल कर, घहर घहर कर ।

हा ! मै दीना
कैसे करूँ कृतज्ञ-भाव प्रकटित गुण-हीना ?
कोकिल का वह कलित कंठ-रव मिले कहाँ से;
नहीं मूल ही हाय ! सुमन फिर खिले कहाँ से ?
है बस मेरे पास अकिंचन ये दूर्वा-दल,
प्राप्त करूँ सन्तोष आज कैसे इनके बल ?
अर्पित ये किस भाँति करूँ उन श्री-सद्मों मे,
शत सहस्र अलि-वृन्द सुसेवित पद-पद्मों मे ?

ओ मूढे, मत हिचक, चढा जो कुछ तू लाई;
यह नव उत्सव आज सभी को हो मुददायी !

लज्जा क्यों ?—गुणि यहाँ एक-से-एक बढ़े हैं,
सुमन यहाँ पर श्रेष्ठ एक-से-एक चढ़े है।
रूप, रङ्ग, शुभ सुरभि यहाँ किसकी है सीमा ?
अधिकाधिक ही सभी, नही कुछ भी तो धीमा।
'कम से कम' का महत् योग लाई है तू ही,
'कम से कम' के साथ यहाँ आई है तू ही !
कम क्या—जो यह महा महत्ता तू ने पाई ?
ओ मूढ़े, मत हिचक, चढ़ा जो कुछ तू लाई !

भाद्र कृष्ण १२—८०

|| श्रीगणेशायनमः ||

# दूर्वा-दल

## भेट

करो नाथ, स्वीकार आज इस हृदय-कुसुम को;
करें और क्या भेंट राजराजेश्वर, तुमको ?
सौरभ की है कमी, कहाँ पर उसको पावें ?
सुन्दरता है नहीं, कहाँ से वह भी लावें ?

## दूर्वा-दल

नहीं आपके योग्य भेट यह ध्रुव निश्चय है;
पर जैसी है आज वही सम्मुख सविनय है।
इष्ट नही यह करो कि धारण इसे हृदय पर;
निज मन्दिर में ठौर कहीं इसको दो प्रभुवर !
तव पद-छाया अकस्मात जिस दिन पावेगा,
तुच्छ कुसुम यह राज-कुसुम से बढ़ जावेगा।
अन्तहीन सुवसन्त इसे विकसित कर देगा,
निरुपमेय सौन्दर्य-सुरभि इसमें भर देगा।
उस दिन गर्व-समेत कह सकेंगे हम तुमसे—
क्या अब भी है अरुचि तुम्हें इस वन्य कुसुम से ?

चैत्र शुक्ल १४—७२

# विनय

है यह विनय वारंवार,  
दीनता-वश हम न जावे दूसरो के द्वार ।  
यदि किसी से इष्ट हो साहाय्य या उपकार,  
तो तुम्हीं से हे दयामय, देव, जगदाधार !  
यदि कभी सहना पड़े दासत्व का गुरु-भार,  
तो तुम्हारा ही हमें हो दास्य अङ्गीकार ।  
यदि कभी हम पर करो तुम क्रोध का व्यवहार,  
भक्ति-पूर्वक तो सदा वह हो हमें स्वीकार ।  
यदि कभी हमको मिले आनन्द-हर्ष अपार,  
भूल कर भी तो प्रभो ! हम तुम्हे दे न विसार ।

संवत् १९७१

## विश्वास

हो अपराध भूल कर भी जब

हमसे किसी प्रकार,

निर्दय बन कर हमें दण्ड तब

दो हे करुणागार !

पाप-कीट इस हृदय-सुमन मे

जब कर जाय प्रवेश,

निर्दय बन कर विष की धारा

छोड़ो तब अखिलेश !

## विश्वास

मलिन हृदय-हाटक हो जावे
कारण-वश जिस काल,
निर्दय बन कर कड़ी आँच में
दो तब उसको डाल !

जब न फले-फूले जीवन-तरु
हो जावे बेकार,
निर्दय बन कर काट-छाँट तब
करो छोड़ कर प्यार !

परमपिता ! हम हो जावे जब
दुराचरण के दास,
निर्दय बन कर हमें शास्ति दो
तज वात्सल्य-विकास !

निर्दय बन कर करो और भी
जो करना हो और,
निज विश्वास न छीनो हमसे
किन्तु किसी भी ठौर ।

पाकर उसकी ही सहायता
सत्वर बिना प्रयास,
विपद-सिन्धु हम तर जायेंगे
है हमको विश्वास।

वैशाख कृष्ण ८—७२

# अभागा फूल

अभागे फूल, मुरझाने लगा तू ;
सताया काल से जाने लगा तू ।
अभी अच्छी तरह खिल भी न पाया,
कि तुझ पर हाय ! ऐसा दुःख आया ।
नही फैला सका सौरभ कभी तू ,
अभी से खो चला गौरव सभी तू ।

सभी साथी मुदित हैं देख, तेरे,
तुझी को हाय ! है दुर्दैव घेरे।
नहीं तेरा अभी सुवसन्त आया,
प्रथम ही हाय ! उसका अन्त आया !
अभी से लग गया आतप दुखाने,
कलेवर हाय ! तेरा यह सुखाने !
यद्यपि मध्यान्ह जीवन का निकट है,
तदपि तेरे लिए सन्ध्या प्रकट है !
हुआ क्यों हाय ! यह चिर दुःख-भोगी,
दयामय ! क्या दया इस पर न होगी ?

वैशाख १९७२

# शरणागत

क्षुद्र-सी हमारी नाव, चारो ओर है समुद्र,
वायु के झकोरे उग्र रुद्र रूप धारे हैं ।
शीघ्र निगल जाने को नौका के चारों ओर
सिन्धु की तरङ्गें सौ-सौ जिह्वाएँ पसारे हैं ।
हारे सभी भाँति हम, अब तो तुम्हारे बिना
झूठे ज्ञात होते और सब के सहारे हैं ।
और क्या कहे अहो ! डुबा दो या लगादो पार,
चाहे जो करो शरण्य ! शरण तुम्हारे हैं !

सुनसान कानन भयावह है चारो ओर,
दूर दूर साथी सभी हो रहे हमारे है ।
काँटे बिखरे है, कहाँ जावें जहाँ पावे ठौर,
छूट रहे पैरो से रुधिर के फुहारे है ।
आ गया कराल रात्रि-काल, हैं अकेले यहाँ,
हिंस्र जन्तुओ के चिन्ह जा रहे निहारे है ।
किसको पुकारें यहाँ रोकर अरण्य-बीच
चाहे जो करो शरण्य ! शरण तुम्हारे हैं !

कार्तिक कृष्ण १—७४

## गृह-प्रदीप

बुझा गया इस गृह-प्रदीप को
हाय ! अचानक कौन समीर,
आज हमारी पर्ण-कुटी मे
अन्धकार हो उठा गभीर ।

अभी यहाँ तुमको आना है
　　अब क्या करूँ कहो हे नाथ !
स्वागत कैसे करूँ तुम्हारा
　　आज यहाँ इस तम के साथ ?

वैसे ही तो यहाँ तुम्हारे
　　योग्य नहीं था कोई साज,
अल्प स्नेह से हाय ! एक ही
　　दीप जला रक्खा था आज।

वह भी हा ! बुझ गया अचानक;
　　चिन्ता है अब यही विशेष,—
बाहर से ही लौट न जाओ
　　घर मे कहीं अँधेरा देख।

पर यह चिन्ता व्यर्थ, तुम्हें जब
आना है तो आओगे।
मन्द दीप को ही न देख कर
लौट नहीं तुम जाओगे।

पहुँचेगा तव एक चरण ही
द्वार-देहली तक जब तक,
सौ-सौ दीपावलियाँ गृह को
सुप्रभ कर देंगी तब तक !

कार्तिक कृष्ण ९—७४

# अनुरोध

जब इस तिमिरावृत मन्दिर मे
उषालोक कर उठे प्रवेश,
तब तुम हे मेरे हृदयेश !
इस दीपक की जीवन-ज्वाला
कर देना तुरन्त निःशेष;
यही प्रार्थना है सविशेष।
जब यह कार्य्य प्रपूर्ण कर चुके
देह होमने के उपरान्त;
स्वयं प्रकाशित हो यह प्रान्त;
पूर्ण प्रभा में कर निमग्न तब
कर देना प्रदीप यह शान्त;
देर न करना जीवन-कान्त !

कार्तिक शुक्ल ४—७४

# मृत्यु-भय

यह रात सहसा आ गई,<br>
नभ मे अँधेरी छा गई।<br>
सोना पड़ेगा अब हमे,<br>
ये कार्य तज कर सब हमें।<br>
है कार्य पूर्ण न एक भी,<br>
किस भाँति सो जावे अभी।<br>
क्या नींद अच्छी आयगी,<br>
यह रात यों ही जायगी।

दुःस्वप्न दुख पहुँचायँगे,
क्या शान्ति झप कर पायँगे ?
हे नाथ, ले न विराम हम,
दिन-भर करें बस काम हम;
सन्ध्या समय ऐसे थकें,
हम नींद गहरी ले सकें,
जिसमें कि हम फिर जब जगें,
सोत्साह कार्यों में लगें।

कार्तिक शुक्ल १२—७४

## गूढ़ाशय

स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब
तुमने उसको फेंक दिया;
होकर क्रुद्ध हृदय अपना तब
मैंने तुमसे हटा लिया ।

सोचा—मै उपवन मे जाकर
सुमन इन्हे दिखलाऊँ लाकर।
मैने सारी शक्ति लगा कर
कण्टक-वेष्टन पार किया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब
तुमने उसको फेंक दिया।

उपवन भर के श्रेष्ठ सुमन सब,
जाकर तोड़ लिये सहसा जब,
समझ तुम्हारा गूढ़ाशय तब,
हुआ विशेष कृतज्ञ हिया।
स्वर्ण-सुमन देकर न मुझे जब
तुमने उसको फेंक दिया।

कार्तिक शुक्ल १३—७४

# माली के प्रति

माली ! देखो तो तुमने यह
कैसा वृक्ष लगाया है !
कितना समय होगया, इसमें
नही फूल भी आया है !
निकल गये कितने वसन्त हैं,
बरसातें भी बीत गईं;
किन्तु प्रफुल्लित इसे किसीने
अब तक नहीं बनाया है !

साथ छोड़ती जाती हैं सब—
शाखा आदि रुखाई से।
शुष्क हुए पत्तो को इसने
इधर उधर छितराया है !
अतुल तुम्हारे इस उपवन की
इससे भी कुछ शोभा है ?
क्या निज कौशल दिखलाने को
इसे यहाँ उपजाया है ?
अरे, काट ही डालो इसको
अथवा हरा-भरा कर दो,
कहें सभी आहा ! तुमने वह
कैसा वृक्ष लगाया है !

कार्तिक शुक्ल १५—७४

# परीक्षा

मैं हूँ एक, अनेक शत्रु सम्मुख हैं मेरे,
क्रोध, लोभ, मोहादि सदा रहते है घेरे।
परमपिता, इस भाँति कहाँ मुझको ला पटका,
जहाँ प्रतिक्षण बना पराभव का है खटका।
अथवा निर्बल समझ अनुग्रह है दिखलाया,
करने को बल-वृद्धि अखाड़े मे पहुँचाया।
सबल बनूँ मै घात और प्रतिघात सहन कर,
ऊपर कुछ चढ़ सकूँ और दुख-भार वहन कर।
इस कठिन परीक्षा-कार्य मे
होजाऊँ उत्तीर्ण जब
कर देना मानस-सद्म में
शान्ति-सुगन्धि विकीर्ण तब।

मार्गशीर्ष कृष्ण १—७४

## कामना

हाय ! तुम्हारे क्रीड़ा-स्थल इस
मानस मे हे हृदयाधार,
विपुल वासनाओ के पत्थर
फेंक रहे हम वारंवार ।

## कामना

उलटी हमे हानि ही होती
यद्यपि इस अपनी कृति से,
किन्तु इसीमे लगे हुए है
यथाशक्ति हम सभी प्रकार ।

जो जल स्वच्छ और निर्मल था
पंकिल होता जाता है,
घटता ही जाता है प्रति पल
उसका वह गाम्भीर्य अपार ।

छिपा हुआ है पद्मासन जो
यहीं तुम्हारे लिए कहीं,
उसके ऊपर चोट न आवे
यही विनय है करुणागार !

मार्गशीर्ष कृष्ण २—७४

# सुजीवन

हे जीवन-स्वामी तुम हमको
जल-सा उज्वल जीवन दो !
हमे सदा जल के समान ही
स्वच्छ और निर्मल मन दो !

रहे सदा हम क्यो न अतल मे,
किन्तु दूसरो के हित पल में
आवे अचल फोड़ कर थल मे;
ऐसा शक्ति-पूर्ण तन दो !

स्थान न क्यो नीचे ही पावे,
पर तप मे ऊपर चढ़ जावे,
गिर कर भी क्षिति को सरसावे,
ऐसा सत्साहस धन दो !

मार्गशीर्ष कृष्ण ३–७४

# अपूर्ण यात्रा

शुद्ध शान्ति-जल बरसाओ तुम
उर-क्षेत्र पर हे प्राणेश !
यही प्रार्थना करते रहना
हुआ हमारा था उद्देश ।

यह परन्तु तुमको क्या भाया,
पावक ही पावक बरसाया;
जीवन-धारण कठिन होगया
जिसके कारण एक निमेष ।

सभी झाड़-झंखाड़ जलाके,
खाद-रूप में उन्हे बनाके,
वह दाहक-पावक स्वामिन्, अब
स्वयं हो गया है निःशेष !

अब झट हल का संघर्षण कर,
इष्ट बीज बोदो हे विभुवर ।
सफल-काम करना फिर करके
शान्ति-वारि-वर्षा सविशेष ।

मार्गशीर्ष कृष्ण ११—७४

# सन्तोष

जिस दिन तुम इस हृदय-कुञ्ज पर
अकस्मात् आ जाओगे,
करुणाधाराएँ बरसा कर
सब संताप मिटाओगे।

कहीं शुष्कता नहीं रहेगी,
तृष्णानल बुझ जावेगी;
इसको हरा-भरा करके तुम
सौ सौ सुमन खिलाओगे।

धूल उड़ा कर यह समीर जो
इसे मलिन करता रहता,
तुम सर्वत्र इसी के द्वारा
शुभ सौरभ फैलाओगे।

आतप की इस दुःसहता में
है सन्तोष यही हमको,—
पावस मे हे घनश्याम! तुम
नवजीवन ले आओगे।

संवत् १९७४

## लेखनी

धन्य, धन्य, तू धन्य लेखनी,
हे अनन्त आनन्दमयी !
होकर भी प्राचीन प्रचुर तू
बनी हुई है नित्य नयी ।
जिस पुनीत क्षण में इस भव मे
उद्भव हुआ शुभे ! तेरा,
गाया पुलकित मूक प्रकृति ने—
'धन्य भाग्य मेरा-मेरा !'

केवल काली स्याही पीकर
अमृत-वृष्टि करती है तू ,
स्वयं रीत कर और सूख कर
रस के घट भरती है तू ।
मनो-मुकुल विकसा-विकसा कर
नव नव दृश्य दिखाती है ।
विना तार झङ्कार दिये ही
हृत्तन्त्री पर गाती है ।
सम्मुख लाकर रख देती है
अन्तस्तल अन्तस्तल से,
किये हुए हैं मुग्ध सभी को
तू किस कौशल से—बल से ?
तेरे पुण्य करुण-कीर्त्तन से
हृदय द्रवित हो जाता है ।
तेरा ही स्वर मर्म्म-कथा को
प्रियतम तक पहुँचाता है ।

## लेखनी

तेरे ही शुचि-रसालाप में
प्लावित हो जाता मन है।
जीवन है कृत-कृत्य उसीका
जिसको तेरा साधन है।
किस स्वर्गीय प्रकाश-राशि की
तू सुवर्ण-मय रेखा है?
विधि की कुशल तूलिका की तू
अतुल अलौकिक लेखा है।
और हमे कुछ नही चाहिए
तुझसे हे सुभगे, वरदे,
हृदय-गुहा की गूढ़ कालिमा
तू तुरन्त बाहर करदे!

संवत् १९७५

# सु-अवसर

विगत हे जलजात ! निशा हुई,
　　　　द्युतिमयी वह पूर्व दिशा हुई।
छिप उलूक गये भय-भीति से,
　　　　अब विकास करो तुम प्रीति से !

—

# निर्विवेक

सन्तुष्ट आक पर नित्य रहो सहर्ष,
हे ग्रीष्म, सन्तत करो उसका प्रकर्ष।
है कौन हेतु, पर होकर जो कराल
हो नष्ट-भ्रष्ट करते तुम ये तमाल ?

——

## असमय

ये जीव-जन्तु गण पाकर तीव्र क्लेश,
हैं हो चुके अहह नीरद ! भस्म-शेष ।
दावाग्नि से जल चुका वन प्रान्त सारा,
वर्षा रहे किस लिए अब वारि-धारा ?

---

# अनौचित्य

यह कृषि कितनो की अन्नदा प्राण-दात्री,
अहह घन ! तुम्हारी है रही प्रेम-पात्री।
जलधर, तुमने ही तो इसे था बढ़ाया,
फिर उपल गिरा के क्यों स्वयं ही मिटाया ?

---

# कृतघ्न

इन विटपवरों ने हे मरुत् ! मोदकारी,<br>
सुरभि सतत देके की सु-सेवा तुम्हारी ।<br>
व्यथित अब इन्हीं को वह्नि से आज देख,<br>
ज्वलित कर रहे हो और भी क्यों विशेष ।

संवत् १९७१

## गत दिवस

चला गया है आज हमारा
एक दिवस यह और,
समय विगत होता रहता है
इसी तरह सब ठौर।

अभी अभी तो दिन निकला था
होता है यह ज्ञात,
देर न कुछ भी लगी और यह
अभी आगई रात !
दिन ही क्यो, वर्षों पहले का
सुखमय शैशव काल,
मन मे आता है मानो वह
अभी गया है हाल।
सुख की खिली चाँदनी हो या
होती हो दुख-वृष्टि,
किन्तु ठहर कर समय न इन पर
कभी डालता दृष्टि।
यह रजनी भी चली जायगी
होगा इसका अन्त,
दिन आवेगा चला जायगा
फिर वह भी हा हन्त !

## गत दिवस

चल यो निशि-दिन-रूप पगो से
निशि-दिन बिना प्रयास,
चले जा रहे हम सवेग हैं
महामृत्यु के पास।
करना हो जो करें शीघ्र हम
तज आलस्य अभङ्ग,
क्या जानें कब छूट जाय इस
समय-सखा का सङ्ग।

संवत् १९७१

# जननी

हे जननी, हे जन्म-दायिनी जननी, मेरी,
हो जाता मन विकल याद आते ही तेरी।
समझा तू ने सदा मुझे आँखो का तारा,
मुझे समझती रही सदा प्राणो से प्यारा।
तू ने अनेक दुख हैं सहे
सुख-पूर्वक मेरे लिए।
तू ने मेरे कल्याण-हित
क्या क्या यत्न नही किये।

कोई पीड़ा हुई ज़रा-सी भी जब मुझको,
मुझसे दूना दुःख हाय! व्यापा तब तुझको।
रात रात भर तुझे दृगों में नींद न आई,
जिस प्रकार हो सका, शीघ्र वह व्यथा मिटाई।
मेरे सुख में सुख था तुझे,
दुख में दुःख रहा सदा;
मुझसे सर्वत्र अभिन्न था,
तेरा तन-मन सर्वदा।
अर्द्ध रात्रि के समय सभी जब सो जाते थे,
जब अवनी-आकाश तिमिर-मय हो जाते थे,
तू पंखे से व्यजन मुझे तब भी करती थी,
थपकी देकर क्लान्ति सभी मेरी हरती थी।
प्रभुवर के पुण्य प्रसाद-सा
मुझ पर तेरा स्नेह था।
पाकर मै उसको हे जननि,
सुकृती निस्सन्देह था।

फुनसी-फोड़े जब कि होगये मेरे तन में,
मुझे देखकर घृणा हुई औरो के मन मे।
तब भी माँ, तू मुझे हृदय से रही लगाये,
वैसा ही वात्सल्य-भाव तू रही जगाये।
तू खिल जाती थी चित्त मे
मुझको मुदित निहार के;
तू मुझे खिलाती थी सदा
मुझ पर सब कुछ वार के।
काटा मैने नई उठी दँतुली से तुझको,
किया और भी अधिक प्यार तब तू ने मुझको।
छींट दिया जल शीत-काल मे तेरे ऊपर,
तब भी तू ने प्रेम किया माँ, मेरे ऊपर।
जब इन बातो की याद ही
मुझको आ जाती कभी,
गद्गद हो जाता है हृदय,
आँखें भर आतीं तभी।

## जननी

भोजन करता हुआ मचल जब मै जाता था,
जब न एक भी ग्रास और मुझको भाता था,
तब हे जननी, विविध प्रलोभन तू दे देकर,
करती थी अनुकूल मुझे गोदी मे लेकर ।
अति ही अमूल्य थी लोक में,
वे तेरी बातें सभी,
उस समय हाय ! इस बात का
ज्ञान हुआ न मुझे कभी !
जब मै मन में कभी किसी कारण दुख पाकर,
कर उठता था रुदन एक कोने में जाकर ।
बहलाती थी चित्त अहा ! तब तू ही मेरा,
गुण-वर्णन मै करूँ कहाँ तक हे माँ, तेरा ।
मै बार बार फिर जन्म लूँ
वह सुख पाने के लिए,
तौ भी हे जननी, तनिक भी
तृप्ति नहीं होगी हिये ।

मुझ पर तेरी दया-दृष्टि सन्तत रहती थी,
प्रति दिन सन्ध्या-समय कहानी तू कहती थी।
मेरा कहना नहीं कभी भी तू ने टाला;
प्रेमामृत ही सदा-सर्वदा मुझ पर ढाला।
आकर अब मुझ पर फेर दे
हे माँ, तू निज हाथ ही,
तो पड़ जावे हृदयाग्नि पर
पानी उसके साथ ही।

संवत् १९७२

# तुलसीदास

त्रिशत वर्ष पहले श्रावण मे
जो नव नीरद निर्म्मल,
हुआ तिरोहित था भारत को
करके शुचि स्निग्धोज्ज्वल।
अब भी हृदय हरित है उसके
सुकृत-सुधा-सिञ्चन से;
हे सुकवे ! सुकृतार्थ हुए हम
तव सत्कृति-कीर्त्तन से।

तुम्हे तीन सौ वर्ष हुए, यह
इतिहासज्ञ बताते,
अपने बीच किन्तु तुमको हम
वर्त्तमान हैं पाते।
आगे भी यदि इसी भूमि पर
जन्म कहीं पावेंगे,
तो निश्चय है हम अवश्य ही
तुम्हे यहीं पावेंगे।
अन्तर्बाह्य-प्रकाशक तुमने
दिव्य-दीप दिखलाया,
तुमने हमें मुक्त होने का
राम-मन्त्र सिखलाया।
पर तुमको इस मृत्यु-लोक से
कैसे मुक्त कहे हम?
इसी जगह तुम अमर होगये,
यह बन्धन है दृढ़तम।

## तुलसीदास

सरयू और जन्हु-तनया ये
उसी जगह है बहतीं,
कल-कल करके उसी भाव से
मर्म्म-कथा-सी कहती ।
इनके तट पर किन्तु बहाई
तुमने जो रस-धारा,
सबका सब होगया देश यह
प्लावित उसके द्वारा ।
रम्य रामचरितामृत से यह
मानस तुमने भर कर,
किया पुनीत प्रेम-मय इसको
पाप-ताप सब हर कर ।
बार बार पीते है, पर यह
अतुल अमृत है कैसा,
इसके लिए तृषातुर यह मन
है जैसे का तैसा !

बसे हुए है रोम रोम मे
प्रिय उपदेश तुम्हारे,
सहचर, सखा और सद्गुरु भी
हो तुम सदा हमारे।
सुख मे गीत तुम्हारे गाकर
सुख विशेष हम पाते,
दुख मे हमें सान्त्वना देने
वाक्य तुम्हारे आते।
तुम परिवार-मुक्त हो मानो
संख्यातीत जनो के,
तुमने कलि-कल्मष काटे है
अगणित मलिन मनो के।
बैठ एक निर्जन कुटीर मे
सुर-सरिता के तट पर,
भक्ति-तत्व लिख गये असंख्यक
मनुजों के हृत्पट पर।

## तुलसीदास

हे निस्पृह, निज धन्य-भूमि का
प्रेम तुम्हें भी भाया,
अपने छोटे-से उस पुर को
राजापुर कहलाया।
उसके दीन-कुटीर गृहों से
हुई तुम्हे भी ममता,
तब तो उन्हे बिना माँगे ही
दी तीर्थों की समता।
ऐसे श्रेष्ठ शब्द-सुमनो को
देव! कहाँ हम पावें,
जिन्हे समर्पित कर हम तुमको
अपनी प्रीति जनावें।
तुम्हे प्राप्त कर शीश हमारा
है अति गर्वोन्नत यह,
भक्ति-भार से पद-कमलों में
होता स्वयं प्रणत वह।

कार्तिक शुक्ल १२-७९

# समीर के प्रति

गिरि, वन, उपवन, नदी-नदों को चूमते,<br>
हे समीर ! उद्भ्रान्त हुए तुम घूमते ।<br>
जब से तुमने जन्म धरा पर है लिया,<br>
क्षण भर भी विश्राम नही निज को दिया ।

## समीर के प्रति

हो प्रभात या दिवस या कि दिवसान्त ही,
करते रहते भ्रमण सदैव अशान्त ही।
सब रहस्य तुम जान चुके हो विश्व के,
कोने कोने छान चुके हो विश्व के।

करते भीषण जन्तु जहाँ पर वास हैं,
रवि-शशि करते जहाँ कभी न प्रकाश हैं,
शैल-गुहाएँ तमः-प्रपूर्ण भय-प्रदा,
करते यातायात वहाँ भी तुम सदा।

श्रान्ति, शिथिलता और भीति-भय भङ्ग कर,
चढ़ते हो तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग पर।
क्या कोई खो गया तुम्हारा रत्न है?
प्रतिपल जिसके लिए अथक यह यत्न है।

उषा काल—जब विहग अमृत-सा घोलते,
चटका कर तब मंजु मुकुल तुम खोलते।
पर उनमें भी इष्ट वस्तु पाते नही,
लेकर गहरी साँस चले जाते कही।

शाखाओ पर कभी कही तुम झूलते,
तुमसे पाकर हर्ष विटप है फूलते।
होती है जो सुरभि प्राप्त तुमको वहाँ,
फैला देते उसे तुरन्त जहाँ तहाँ।

नहीं दीखता तनिक तुम्हे विश्राम है,
सतत भ्रमण ही एक तुम्हारा काम है।
अविश्रान्त यह कष्ट तुम्हारा धन्य है;
क्या यह व्रज्या विश्व-वेदना-जन्य है?

## समीर के प्रति

होता जब तम-पूर्ण ज्ञात संसार है,<br>
दुःखी को रहता न कहीं आधार है।<br>
तब उसके दुःखाश्रु पोंछ जाते तुम्हीं,<br>
इस विराट भव-बीच काम आते तुम्हीं।

होती है जब धरा तप्त तप-शूल में<br>
मुँह में तृण-दल दाब लोटते धूल में।<br>
होता वह उत्ताप तुम्हें अनुभूत है,<br>
होता तब तो तप्त देह तव पूत है।

यह मन सहसा विकल आज क्यों हो उठा,<br>
किस कारण निज-धैर्य अचानक खो उठा?<br>
मुग्ध हुआ है देख तुम्हारे रङ्ग यह,<br>
किया चाहता भ्रमण तुम्हारे सङ्ग यह।

चलो, आज उड़ चलें वहाँ उस देश मे,
दीखें सब जन जहाँ तुम्हारे वेश में।
दे यह जीवन-डोर तुम्हारे हाथ मे,
घूमे देश-विदेश तुम्हारे साथ में !

कार्तिक शुक्ल ९—७९

# मूर्ति

मग्न हो हे मूर्ति, तुम किस ध्यान मे,
लग्न हो तुम किस अपूर्व विधान में ?
शीत, तप, वर्षा विपुल आ जा रहे,
पर तुम्हे हम मौन ही हैं पा रहे।

किस लिए है यह विकटतर साधना,
किस लिए है यह अतुल आराधना ?
तुम यहाँ इस भाँति कब से हो खड़ी,
पूर्ण कब होगी तपस्या यह कड़ी ?

स्वच्छ नभ मे विहँसती है जब निशा,
जाग उठती है सुधांशु-मयी दिशा।
किन्तु तब भी मौन हो तुम दीखती,
कौन पाठ दुरूह तुम हो सीखती ?

गरजती घन-घोष से जब यामिनी,
गाढ़ करती तिमिर को सौदामिनी।
उस समय भी तुम खड़ी रहती यही,
एक क्षण भी है विराम तुम्हे नही।

ग्रीष्म जब बनता कृतान्ताकार-सा,
गात होता तप्त तप्ताङ्गार-सा;
पर तुम्हे होता नही दुख-रोग है,
कौन-सा हे योगिनी, यह योग है ?

## मूर्ति

हो चुके साम्राज्य कितने ध्वंस है,
राज्य भोग चुके विपुल नृप-वंश हैं।
भूप भिक्षुक, और भिक्षुक नृप हुए,
पर तुम्हारे साश्रु नेत्र कभी चुए?

नासिका को छिन्न कोई कर गया,
क्रूरता अपनी अमर कर मर गया।
ध्यान इसका भी नहीं है पर तुम्हे,
क्या कभी कोई हुआ है डर तुम्हे?

सुरभि सुरभित पवन दे जाती तुम्हे;
कौन कह सकता कि वह भाती तुम्हे?
मार्ग-रज आकर प्रभञ्जन डालता,
पर—तुम्हारी धन्य धैर्य्य-विशालता!

शैल भी यह है खड़ा पाषाण का,
ग्रथित यह भी है कठिनतर प्राण का।
पर वसन्त विशेष विहँसाता इसे,
धूल-धूसर ग्रीष्म कर जाता इसे।

पर, न तुम हँसती कभी क्या बात है?
खेद भी होता न तुमको ज्ञात है।
क्या प्रतीक्षा है किसी सुवसन्त की—
हो कभी बेला न जिसके अन्त की?

बहुत कुछ तुम देख-भाल चुकी अभी,
और देखोगी अनन्त भविष्य भी।
अन्त इस वैराग्य का कब आयगा?
या तुम्हारे साथ ही यह जायगा?

## मूर्ति

जिस तरह शिल्पी खड़ा है कर गया,
आन्तरिक जो भाव मुख पर भर गया।
धन्य आज्ञाकारिता के चाव से
तुम खड़ी हो आज तक उस भाव से !

हाय ! यदि हम मूर्ति ही होते कहीं,
और होकर और तो होते नहीं।
प्राप्त जो तुमको महान महत्व है,
इस मनुजता मे कहाँ वह तत्व है ?

दीपावली १९७९

## कोजागर पूर्णिमा

हे प्रसन्नवदने, विलासमयि !
क्यो यह है स्मित हास ?
उडुगण मिष रोमाञ्चमयी तू
है क्यो यह उल्लास ?
हे कोजागर निशे ! तुम्हारा
यह सुहाग-सिन्दूर,
देता है आल्हाद हृदय में
किसे नहीं भरपूर ?

## कोजागर पूर्णिमा

परिमल-भार-भरित मारुत भी
ठिठक रहा अवलोक
दिग्-दिगन्त-व्यापक विमुग्ध-कर
यह छवि—यह आलोक ।
प्रकृति-बधू इस प्रिय प्रकाश में
रह निश्चल चुपचाप,
निरख निरख निज मञ्जु माधुरी
मोहित-सी है आप !
भला कहाँ से आया है यह
इतना मृदु माधुर्य्य,
संग्रहीत यह हुआ कहाँ से
प्रियता का प्राचुर्य्य ?
हास प्रियतमाओं का लेकर
शिशुओं का शुचि-भाव,
अपनी इस नव सुषमा का क्या
तू ने किया बनाव ?

तेरी इस शान्तोज्वलता में
हृदय रहा है डूब,
तू ने उसे क्षीर-निधि मे-सा
किया निमज्जित खूब ।
दिन के प्रखर प्रखर तापो से
तप्त हुआ जो देह,
शीतल उसे किया है तू ने
मन-समेत सस्नेह ।
किस विराट की पूजा का यह
आयोजन है आज ?
पूजा का यह थाल सजाया
सज सज सौ सौ साज ।
किसकी अतुल आरती है जो
है यह नीरव धूम ?
दीपित किया आज यह तू ने
दिव्य-दीप निर्धूम ।

## कोजागर पूर्णिमा

भादों की घन-सघन घटाएँ
चली गई हैं दूर,
हुई अमृत का प्याला ले यह
इसीलिए क्या चूर ?
वर्षा में विश्राम लिया था
तम-पट मुँह पर डाल;
रजनि ! स्फूर्ति यह इसीलिए क्या
है तुझमें इस काल ?
आज जागरण करता है जो
होता है श्रीमान,
विभावरी, क्या इसीलिए तू
जागृत है मुद मान ?
हुई किन्तु पहले ही से जो
यह छवि तुझमें व्याप्त,
इससे अधिक और क्या तुझको
हो सकता है प्राप्त ?

संवत् १९७९

## घट

कुटिल कंकड़ो की कर्कश रज
मल-मल कर सारे तन मे,
किस निर्मम निर्दय ने मुझको
बाँधा है इस बन्धन मे ?

फाँसी-सी है पड़ी गले मे
नीचे गिरता जाता हूँ;
बार-बार इस अन्ध-कूप में
इधर-उधर टकराता हूँ।

ऊपर-नीचे तम ही तम है
बन्धन है अवलम्ब यहाँ!
यह भी नही समझ मे आता
गिर कर मै जा रहा कहाँ!!

काँप रहा हूँ; भय के मारे
हुआ जा रहा हूँ म्रियमाण;
ऐसे दुखमय जीवन से हा!
किस प्रकार पाऊँ मै त्राण?

सभी तरह हूँ विवश, करूँ क्या
नहीं दीखता एक उपाय;
यह क्या ?—यह तो अगम नीर है,
डूबा ! अब डूबा, मैं हाय ! !

भगवन् ! हाय ! बचालो अब तो,
तुम्हे पुकारूँ मै जब तक,
हुआ तुरन्त निमग्न नीर मे
आर्तनाद करके तब तक ।

अरे, कहाँ वह गई रिक्तता,
भय का भी अब पता नहीं;
गौरववान हुआ हूँ सहसा;
बना रहूँ तो क्यों न यहीं ?

पर मैं ऊपर चढ़ा जा रहा
उज्ज्वल तर जीवन लेकर;
तुमसे उऋण नहीं हो सकता
यह नवजीवन भी देकर।

भाद्र कृष्ण ३०-८०

## वीणा

हे वीणे ! बता, कहाँ पाया
इस दारुखण्ड में मनभाया,

यह मंजु-मधुर-रव चित्तचोर ?
मन पागल-सा होकर तत्क्षण
सुन कर तेरा यह मृदु-निक्कण
जाता है किसी अचिन्त्य-ओर
है कहीं न जिसका ओर-छोर ।

क्रम-क्रम से द्रुत, द्रुततर, द्रुततम,
कर-कर कल-नृत्य-कलित-विभ्रम,
तेरे ये लौह-कठोर-तार,
किस गुण-बल से, किस कौशल से,
लेकर तेरे अन्तस्तल से
वितरित करते है बार-बार
तेरा आह्लाद विषाद, प्यार !

जब किसी दूर-वासी वन मे
सुरभित-समीर के सन-सन में,
तू थी नवकुसुमित लताकार,
यह कोमलता शुचिता तब की,
—कुछ ज्ञात नही जाने कब की—
तू रही छिपाये किस प्रकार,
ज्यो पूर्व-सुकृत-सर्वस्व-सार !

कोई मुग्धा तापस-बाला,
मानो उत्फुल्ल सुमन-माला,
निज कर-कञ्जों से कच सँभाल—
जल देती थी तेरे तल मे,
प्रतिदिन प्रभात के कल-कल मे ।
क्या उसका वह माधुर्य-जाल,
झङ्कार-रूप मे है रसाल ?

संकुचित, विलज्जित से नव-नव,
तेरी उस शाखा के पल्लव,
पिक-कूजन सुन कर मोदमान,
हो लोट-पोट उस सुस्वर पर
करते थे मधुर-मधुर-मर्मर ।
क्या यह पञ्चम का हर्ष-गान,
था किया तभी आकण्ठ-पान ?

मलयानिल को आगे करके,
पीकर परागमधु जी-भर के,
जब-जब वसन्त आया नवीन,
उसका विलास उच्छ्वास-भरित
चुपके-चुपके करके सञ्चित
कर रक्खा था क्या आत्मलीन,
है वही गूँज यह बन्ध-हीन ?

लूहों की जीभे कर लप लप,
फुंकारित फणियों-से आतप
झपटे तुझ पर होंगे सरोष।
पी लिया स्वयं उनका विष सब,—
है नहीं चिह्न तक जिनका अब।
हम सबके हित मधु मधुर कोष
रक्षित रख छोड़ा है अदोष !

जानें क्यों आता है मन मे—
देखा हो तुझे कही वन मे,
मैने प्रवास मे मार्ग भूल।
अब किन्तु किसी को ज्ञात नही,—
हम-तुम दोनो मिल चुके कही;
तेरी डाली ने झूल-झूल,
डाला था मुझ पर एक फूल !

क्या वही मित्रता-मयी सुकृति
—जो हुई विगत जीवन की स्मृति—
धर कर यह नूतन रम्य-रूप
बरबस मुझको है खींच रही।
यह हृदय सुधा से खींच रही।
स्वर-सुमनो के-से स्तूप-स्तूप
वह बरसाती जाती अनूप।

## वीणा

हे साधन-सिद्धि ललित वीणे !
तू है कल-कण्ठ-कलित वीणे ! !
मेरे जीवन में कर निवास ।
तेरे निक्कण का-सा सुन्दर
आनन्द-भरित जीवन धर कर,
क्षण-भर मे ही करके विकास
फैला जाऊँ आनन्द-हास ।

---

## कब ?

प्रियतम कब आवेंगे,—कब ?
कुछ भी देर हुई तो मेरे
सुमन सूख जावेंगे सब।

सखि, तब ये तू ने किस बल पर,
चुन रक्खे प्रसून अंचल भर,
नहीं ठहर सकते जो पल भर ?
शीघ्र सूख जाने वाले ये
सुमन सूख जावेंगे जब,
प्रियतम तब आवेंगे,—तब !

## कब ?

प्रियतम कब आवेंगे,—कब ?
कुछ भी देर हुई तो मेरे
दीपक सो जावेंगे सब।

सखि, तब सजग स्नेह से खाली,
दीपावलि किसलिए उजाली,
रहे न क्षण भर जिसकी लाली ?
सत्वर सो जाने वाले ये
दीपक सो जावेंगे जब,
प्रियतम तब आवेंगे,—तब !

---

# पथ

हे अलक्ष्य-गामी पथ !
आये हो कहाँ से तुम ?
करके मनोरथ
यहाँ से तुम
यात्री हुए कौन दूर देश के ?
कौन-से प्रदेश के
तुम अधिवासी हो ?
कब के प्रवासी हो ?

पथ

किस दिन मायाजाल तोड़ के,
गेह निज छोड़ के,
बाहर हुए थे इस अक्षय भ्रमण को ?
—विश्वमहासिन्धु सन्तरण को—?
हे सर्वत्रगामी चर,
विचर विचर कर
ढूँढ़ते किसे हो तुम,—
कौन प्रेयसी है वह, चाहते जिसे हो तुम ?

कोई कहीं मेला है,
या कि कहीं कोई नव खेला है;
करके इसी से टेक
बीच बीच में अनेक
आये मार्ग-बालकों के ये समूह
गाँवों से, विभेद विजनों के व्यूह;

लेके इन्हे साथ मे
पकड़ा के तर्जनी को हाथ में
आगे चले जाते तुम,
कहाँ, कहाँ, इनको घुमाते तुम ?

दूर किसी नगरी मे जाके,
भीड़ मे समाके
नई नई बातें देखते हो वहाँ;
जहाँ तहाँ
घूमते हो नागरिक बन के,
चिन्ह मिटते है ग्राम्यपन के।
घूम-फिर यहाँ-वहाँ जाते हो,
गलियों में बिलाते हो!

फिर भी क्या रहता अधूरा है
मनोकाम,—होता नही पूरा है ?
देते हो दिखाई तुम आगे गये ।
कौन-से नये नये,
दृश्य देखने की तुम्हे साध है ?
पाई गति तुमने अबाध है !

ऊँचे ताड़-जैसे दैत्यकाय झाड़
रक्षक बनाये हे जहाँ पहाड़,—
व्याघ्र की दहाड़ बड़ी,
हाथी की चिंघाड़ कड़ी,
करती जहाँ है किसी पागल का अट्टहास;
दिन मे भी रात का जहाँ है वास;
दुर्गम वहाँ के गर्त-गड्ढो से
खड्ढो से—

'मार्गभ्रष्ट' होने नहीं पाते तुम;
शीघ्र लिखे अक्षरों में शीघ्रतर
सर्प-चाल चलकर,
कुशल-कथा-सी लिख जाते तुम !
स्रोतस्विनी आके पैर धोती जहाँ,
कल कल मंजु ध्वनि होती जहाँ,
करके चमर तीर-वासी द्रुम
कोमल कुसुम—
शुचि तुम पै चढ़ाते है,—
मानो पुष्प-शय्या-सी बिछाते है;
लेने को विराम वहाँ तुम रुक जाते क्या ?
या कि किसी सेतु को सवारी-सम पाते क्या ?
या कि एक गोता साध करके;
भीतर ही भीतर अगाध जल तरके,
आगे अविराम चले जाते हो,
नृत्य और गान आदि से न छले जाते हो !

किन्तु जहाँ पारावार
फैला हुआ अगम अपार—
अन्तहीन है,
हाहाकार—
होता नहीं जिसका विलीन है;
लहरें विलोल-लोल हारकर,
सुध-सी बिसार कर
मुँह से गिराती हुई फेन-पुञ्ज, भ्रान्त-क्लान्त,
आके अनजानें किसी दूर देश से अशान्त,
गिरती धड़ाम से है तट पर,
किन्तु शीघ्र उठकर,
लौट वहीं जाती है उसी प्रकार;
अन्य लहरों के लिए कूल का विरामागार
ख़ाली कर जाती है,
और फिर दृष्टि नहीं आती है।

पूरी तीर्थयात्रा वहीं होती है तुम्हारी क्या,
पैदल भ्रमण-वांछा मिटती है सारी क्या ?
फिर तुम दीख पड़ते हो नहीं,
सागर के गर्भ में समाते तुम क्या वहीं ?
या किसी जहाज पर हो सवार
जाते हो अपर पार ?
बैठ के या नीर-गर्भ-गामी किसी पोत पर,
या कि महावीर ज्यों छलाँग एक मारकर
पार जा उतरते;
ज्ञाति-हीन देशों में विहार फिर करते ?

*　　*　　*　　*

ज्ञात किसे, कहाँ कहाँ घूम तुम आये हो;
कितनी विलुप्त-कथा,
हर्ष-व्यथा,
धूल के कणों में तुम यत्न से छिपाये हो;—

वर्षा, शीत, आतप में
—रात-दिन मग्न रह मौन आत्मतप मे—
कितने प्रवासियो को
—मर्त्यलोक-वासियो को—
तुमने ठिकाने पहुँचाया है;
पार-सा लगाया है!
पूरी दिन-चर्य्या जहाँ लिखित तुम्हारी हो,
अश्रुत युगो की गूढ़गाथा छिपी सारी हो,
उस तहखाने तक तुम पहुँचाओ हमें,
अपना रहस्य सब खोलके दिखाओ हमें!

आश्विन कृष्ण ३०-८१

# बाढ़

( १ )

पेय पय अन्तर के स्नेह का पिलाती हुई,
खेल-सा खिलाती हुई,
नन्ही उन लहरो को लेके निज गोद मे,
मग्न थी अभी तो तू प्रमोद में;
जैसे कुल-लक्ष्मी निज अन्तःपुर-चारिणी,
वैसे ही तटों के बीच भीतर विहारिणी,

# बाढ़

तू थी महा शोभामयी
नित्य नयी;
यमुने हे ! तेरा वह शान्त रूप सौम्याकार
जान पड़ता था नहीं अन्तस्तल का विकार;
चञ्चला की चञ्चलता-तुल्य हे पयःस्विनी !
तेरी यह लोक-लीला थी न आत्मघातिनी;
किन्तु आज एकाएक
छोड़ के सभी विवेक,
मुक्तकेशी चण्डी-सम होकर भयङ्करा
करती हुई त्वरा,
बाहर तू आपे से स्वयं ही आज हो गई;
आप अपने को भी डुबो गई—
भीषण दुरन्त इस बाढ़ में बिना विचार !
अपने ही ऊपर स्वयं प्रहार !
तुझको हुआ क्या ताप कोई कड़ा
जिससे उबल तुझे जाना पड़ा ?

जननी तू तारिणी !
हो गई क्यों सहसा अपत्य-नाशकारिणी ?
आश्रित तटों को तोड़-ताड़ कर
ग्रामों को उजाड़ कर
धूल में तू लोटने गई कहाँ,
करके मलिन देह क्या मिला तुझे वहाँ ?

( २ )

वृन्दावन तेरे पदस्पर्श कर
तट पर—
अपने ही भीतर विहार करता था जहाँ;
कान्त लता-कुञ्जों में
विकच कदम्ब तरु-पुञ्जों में
कलकल-नाद तेरा श्रान्ति हरता था जहाँ,
प्रातःकाल आके कुल-बालाएँ
तुझको चढ़ाती थीं मनोज्ञ मञ्जु मालाएँ,

बाढ़

दिन भर उत्सव की धूमधाम
लेने ही न देती थी तुझे विराम
रेणु के कणो मे भी प्रभूत काल से जहाँ,
जहाँ तहाँ
लिखित कथा थी वनमाली की;
भव्य भाव-शाली की
सकल शिराएँ किसी मौन वेणुनाद से
पुलक-विषाद से
गुंजारित होती थीं,
पुण्यस्मृति-सागर मे मन को डुबोती थी;
आज वही दीर्घाकार
चारो ओर हाहाकार
घूमता है हृदय विदीर्ण कर कर के,
अश्रुजल-प्लावन से नेत्र भर भर के !

( ३ )

छोटे-से तृणांकुर से ले के
आज तक–रात-दिन स्नेह-नीर दे के
अपने ही अञ्चल मे जिनको खिलाया था,
अपने ही शीतल समीर से जिलाया था,
आज उन्ही पादपो को एक ही झकोर में,
एक ही हिलोर मे
जड़ से उखाड़ के बहा दिया,
हाय ! यह क्या किया ?
प्रति दिन की ही भाँति तेरी दूब चर के
अगले पदों के बल नीचे को उतर के,
दीन यह श्यामा गाय
पीती थी सलिल हाय !
सहसा ज्यो वज्रपात,
इसी बीच तेरा हुआ प्रखर तरङ्गाघात,

बह के प्रवाहँ मे
डूबी अविलम्ब वह अगम अथाह मे !

हे सुदूरगामिनी !
स्वामी की कुशल, तुझे पूज पूज कर के,
चाहती थी जो निरीह कामिनी,
आज हा ! उसी का वह प्राणधन
—कैसा यह क्रूरपन—
ले गई बहा के सर्वदा के लिए हर के !

सोते थे कुटी के बीच दीन वे
शङ्का-शोच-हीन वे,
ऐसे में कराल यह तेरी बाढ़ आ गई,
चारो ओर आर्तध्वनि छा गई,
किसको बचावे कौन,
ऐसे में किसी के काम आवे कौन;

चढ़ सके भाग जो चढ़े वे किसी वृक्ष पर
प्राणों पर खेल कर,
प्राणी प्राणहीन-से
सहसा विपत्ति के प्रवाह में विलीन-से ।

जिसके पवित्र उस आँगन मे
पैदा हुए खेले और कूदे बालपन में,
शान्ति की, सुखों की सौम्य मूर्ति-सी,
पुरखों की पुण्यस्मृतियों की एक पूर्ति-सी,
दीन की मढ़ैया वह हाय ! एक पल मे
डूब गई आँखों के समक्ष नीरतल में !

बूढ़ा बाप उठ भी सका न खाट पर से
दब मरा हाय ! वहीं अपने ही घर से ।
गृहिणी न तैर सकी,
कर के प्रयत्न थकी;

बाढ़

बचने की चेष्टा की भयाकुलता,
अन्त मे निराशा की विपुलता,
छाती पर
लिख कर,
वह अविलम्ब
डूबी हा ! निरवलम्ब !

पानी मे बहती हुई डाल पर
देहभार डाल कर,
दाबे हुए बालक को काँख मे,
प्लावन प्रवाह भर आँख मे,
बहती अभागी एक माता यह;
छूट गया एकाएक हाय अरे ! बच्चा वह,
डाल छोड़ जननी भी जाती है,
प्राण के भी प्राण का पता न किन्तु पाती है !

कोसो तक कूल पर दोनों ओर
क्रूर दृश्य ऐसे ही महा कठोर !
जीवन ही त्रास हुआ दीनों का
धान्य-धन-गेह और आत्मजन-हीनो का !

( ४ )

धनिक हो !
देखो यह दृश्य यहाँ आकर तनिक तो।
बचता नही है कुछ बाढ़ में,
—काल की कराल क्रूर डाढ़ मे,—
सब कुछ जाता है !
कातर तुम्हारी ओर दृष्टि किये
बाढ़ की ही झोली लिये
दीनो का समूह यह हाय ! दृष्टि आता है।

## बाढ

छोड कर रुद्र रूप भिक्षुक का रूप धार
आई आज बाढ़ है तुम्हारे द्वार !
पर्व पर जाते हो स्वयं ही जहाँ,
आये हैं वही ये तीर्थ आप ही तुम्हारे यहाँ !
याचक खड़ा है पर्व ही स्वतः !
आगे आज हो के अतः
देकर दया का दान
कुछ तो मिटाओ क्षुधा इनकी महा महान ।

कार्तिक कृष्ण ५-८१

## वृद्ध

हे प्रणम्य वृद्ध ! इस खाट पै पड़े हुए
मृत्यु के-से घाट पै अड़े हुए—
देते हो दिखाई तुम,
हो रहे हो आप अपने को दुःखदायी तुम !
झटका-सा फाँसी का
बार-बार वेग क्रूर खाँसी का !
पास ही विरामागार देखकर
श्वास चलती क्या यह शीघ्रता विशेषकर ?

## वृद्ध

हाय ! वृद्ध, किसने तुम्हारे दाँत तोड़ दिये ?
नेत्र-द्वय फोड़ के भी छोड़ दिये !
छोड़ प्राण-धन को,
निकली क्या अस्थियाँ इसी से पलायन को ?
छिपकर आप अपने के बीच निस्सहाय,
सिकुड़ सिमिट गई त्वचा हाय !
कमर ने है सिर-सा झुका दिया,
हाय ! वृद्ध आके तुम्हे लूट किसने लिया ?

दुर्दशा तुम्हारी देख,
होती है चित्त मे व्यथा विशेष ।
करते हैं नेत्र भी तुम्हारे छल,
शोभन दिनान्त का प्रकाश वह पीतोज्ज्वल,
जान पड़ता है तुम्हे अंधकार;
जान पड़ता है वह मार्ग तुम्हें शून्यागार ।

दोनो कान बात सुनते है कम,
धृष्ट हुए दास-सम;
उठते हुए भी तुम मानो गिरे पड़ते;
चलने में आपस में पैर हैं झगड़ते ।

माता की ( प्रसव ) पीड़ा शान्त कर,
आलय मे नूतन निशान्त कर,
रोकर हँसाते हुए दूसरो को आये जब,
माँ का प्यार, बाप का दुलार, साथ लाये जब,
गूँजता था रोदन तुम्हारा गान-स्वर मे,
अतिथि हुए थे तुम अपने ही घर मे;
याद नही होगी तुम्हे कोई बात,
दिन-रात
खेल-खेल घर में खिलाते थे सभी को तुम;
कोमल कुसुम—

वृद्ध

सम
प्रस्फुटित होते हुए; अनुपम।

वह भी तुम्हे न अब होगा याद,
जब तुम निर्विषाद
नित्य हमजोली मे
बालको की टोली मे
खेलते थे, खेल ही तुम्हारा कारबार था;
चित्त पर चिन्ता का न भार था।
जननी के छौने तुम,
खेल के खिलौने तुम,
लेते थे सुधा का स्वाद माँ की मनुहारों से,
विविध प्रकारो से।
देखा नही तुम्हे बालपन मे,
आता है, परन्तु यह मन में—

क्रीड़ा वह देखी है तुम्हारी कहीं,
तोतली वे बातें भी सुनी हैं मनोहारी कहीं !

जिस दिन पुण्य अवसर में
लेकर किसी का कमनीय-कर कर में,
तुमने कृतार्थ आपको किया;
एक मृदु लतिका ने प्राण-पुष्प भेटकर
आप अपनी ही अस्ति मेटकर
देके निज हाथ तुम्हे सौप अपने को दिया;
जन्मान्तरव्यापी पूर्वजन्म की सुकृति-सा,
विस्मृति मे डूबी हुई स्मृति-सा
जो वियोग भीतर छिपा था अनजाने में,
मन के अगम्य तहखाने में,
एक क्षण मे ही वह सहसा बिला गया,
प्राणो से प्राण को मिला गया ।

वृद्ध

भूल गया अध्ययन, खानपान,
श्रवणों मे गूँजने लगा मनोज्ञ एक गान;
सृष्टि हुई एक नये नंदन विपिन की,
वर्षों के दिनो मे एक दिन की
रास की-सी क्रीड़ा हुई हास की,
विपुल विलास की।

वृद्ध, अब आज तुम्हे आतीं याद बातें वे,
मंजु दिन रातें वे ?
कितने दिनो से तुम्हे छोड़कर,
वे दिन गये है मुँह मोड़कर ?
आज उस मधु की मधुरता
पुण्य की प्रचुरता
स्वप्न में भी दीखती तुम्हे क्या हाय !
अब तो घनान्धकार

## दुर्निवार

छा रहा तुम्हारी इन आँखों मे अमेघकाय।

कितने निकुंज-पुंज घूमकर,
प्रमद वनों के पद चूमकर
और फिर यत्र-तत्र कितने उजाड़ो के,
—दुर्गम समूह जहाँ झाड़ो के—
देख दृश्य नित्य नव
जीवन की धारा तव,
पहुँची यहाँ लौं आज खेल बहु खेल के,
विघ्न और बाधाएँ ढकेल के।
अद्भुत अधीर वह
सामने ही मरण-समुद्र लहराता है,
गर्जन गभीर वह
वृद्ध, तुम्हे भाता है?

## वृद्ध

जीवन के उत्सव की मंजुल विभावरी
क्रीड़ाकरी,
हो गई समाप्तप्राय;
दिवसो की दीपमालिका मे हाय !
दो ही चार
दीप जलते-से हैं किसी प्रकार ।
वृद्ध, इनको भी बुझ जाने दो,
रात के अनन्तर प्रभात फिर आने दो !
माता परलोक की तुम्हारी नई,
प्रसव-व्यथामयी,
देख रही होगी राह,
जाकर उसे दो शिशु-जन्म का नया उछाह !

मार्गशीर्ष कृष्ण ८—८१

## वर्ष-प्रयाण

वर्ष भर के साथी हे वर्ष,
रात्रि-दिवसो के हर्ष-विमर्ष !
आज तुम जाते हो किस ओर,
भुला कर, करके हृदयस्पर्श,
दिवस-मालाओ के ओ चोर !

अमर-जीवन के-से उद्गार !
काल के एक श्वास-सञ्चार !
बनाकर अपने को स्मृति शेष
कहाँ जहाँ जाने को हो तैयार,
चिरन्तन के ओ एक निमेष !

## वर्ष-प्रयाण

खिलाड़ी बालक-से अवदात !
खेल ही खेल खेल दिन-रात;
अचानक आया घर का ध्यान,
छोड़ कर शान्त, सरल उत्पात,
जा रहे द्रुतगति स्वशन-समान !

काल का अनाद्यन्त जो गान,
ध्वनित है, उसमें यह लघुतान,
लगा कर क्षिप्र ताल के सङ्ग
आज तुम करते हो प्रस्थान,
अतल सागर-के ओ लघु भङ्ग !

जीवनामृत का करके व्याज,
मरण का एक बिन्दु विष आज
पिला कर वसुधा को चुपचाप,
कर रहे हो प्रयाण का साज
एक डग, ओ विराट के माप !

न थी पहले की कुछ पहचान,
किन्तु जब आये तुम छविमान !
मिले ज्यों हो वर्षों के मीत,
आज जाते हो पथिक समान
अपरिचित-से सम्बन्धातीत !

उषा का मधुर मूर्तिमय हास,
मलय मारुत का लास-विलास.
साथ ले कर जिस दिवस प्रभात
दिया तुमने निज प्रथम प्रकाश,
अभी वह कल की ही तो बात !

निरन्तर यात्रा आठो याम,
लिया क्षण भर को भी न विराम,
न आई तुमको निद्रा-श्रान्ति,
सजग तापस से हे निष्काम,
तुम्हे क्या है अशान्ति ही शान्ति ?

## वर्ष-प्रयाण

तुम्हारी अन्तर्तुष्टि-निमित्त,
मञ्जु मञ्जरियों का मृदु वित्त
तुम्हें देने लाया ऋतुराज,
लुभा वह सका न पर तव चित्त,
मलिन हो गया तभी वह साज !

कड़ी दोपहरी का वह ताप;
वारि का पावक बनना आप;
दिशाओं का वह हाहाकार;
ज्वलित मारुत का क्रुद्धालाप;
तुम्हारे लिए हुआ निस्सार।

इन्द्रधनु का वह नव भ्रू-भङ्ग,
वायुवाहन मेघों का रङ्ग;
वारि-धारा का वह घन-रोर
नृत्य-निरता विद्युत के सङ्ग;
न नाचा पर तव मानस-मोर !

प्रकाशित कर मणि-दीप प्रकाश,
शरद का स्वच्छ निरभ्राकाश
लिये था अतुल अमृत का थाल;
तुम्हे मिल सका न पर अवकाश,
कि चखते तो उसको क्षण काल!

शीत-मय अगहन का वह शीत;
शिशिर-मय रवि भी हुआ प्रतीत!
ठिठुर कर, थम कर, लेकर साँस,
गई जब निखिल निशाएँ भीत;
लगी पर तुम्हे न हिम की ओस।

आज फिर कोकिल वारंवार,
कर उठा मोह-मन्त्र उच्चार;
मुकुल-बालाएँ नयन उघार
निरखती हैं मृदु वायु विहार;
और तुम जाने को तैयार!

## वर्ष-प्रयाण

विदा, चिर विदा, किन्तु अविषाद,
चराचर खेल रहा आह्लाद;
हमारे नेत्रो के दो बूंद
रह सकेंगे क्या तुमको याद ?
जा रहे हो तुम तो दृग-मूंद ।

* * * *

इधर ज्यों ही अनन्त प्रस्थान,
उधर त्यों ही नव-जन्म विधान !
आ गये तुम झट नूतन देह !
आज तव दे प्राणो मे स्थान,
पिलावें तुम्हे हार्दिक स्नेह ।

संवत् १९८१

## २—अंकुर

लेखक—श्रीकृष्णानन्द गुप्त। इसमें सुन्दर सुन्दर कहानियों का संग्रह है। लेखक कहानी-लेखन-कला में बहुत सिद्धहस्त हैं। इस पुस्तक की सभी कहानियाँ सरस, सुपाठ्य और सुरुचि-सगत हैं।

महाकवि भास विरचित

## ३—स्वप्न वासवदत्ता नाटक

कालिदास की शकुन्तला के बाद संस्कृत साहित्य में यदि किसी नाटक का नाम लिया जा सकता है तो वह महाकवि भास का स्वप्न वासवदत्ता नाटक है। यह उसी का हिन्दी रूपान्तर है। अनुवाद श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने किया है। पढ़कर संस्कृत-साहित्य के श्रेष्ठ कवि की रचना का आनन्द उठाइए।

[ महाकवि भास के अन्य सब नाटक भी शीघ्र ही इसी माला में प्रकाशित किये जायँगे। ]

## ४—स्वास्थ्य-संलाप

इस पुस्तक में स्वास्थ्य संबन्धी सभी सिद्धान्तों पर बड़े उत्तम ढँग से प्रकाश डाला गया है। पुस्तक कहानी के ढंग पर लिखी गई है। पढ़ने में उपन्यास का आनन्द आता है। भाषा इतनी सरल कि बालक भी समझलें, विषय के लिहाज़ से इतनी गंभीर कि बूढ़ों के भी पढ़ने योग्य। घर की कुलबधुओं, माताओं और

बालकों के हाथ मे दी जाने योग्य अपने ढँग की एक ही पुस्तक है।

## ५—दूर्वा-दल

( पुस्तक आपके हाथ मे ही है )

## ६—शेलकश

साहित्य जगत मे रूसी लेखक 'गोर्की' का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उसी की 'शेलकश' नामक प्रख्यात कहानी का यह हिन्दी अनुवाद है। समाज के निम्न श्रेणी के लोगो का गोर्की ने ऐसे अच्छे ढंग से चित्र खींचा है कि पढ़ कर उनके प्रति स्वतः सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। संसार के निकट निंदा, अपमान, लांछना, अवज्ञा और आघात पाकर जो सचमुच ही मनुष्य से पशु हो गये है, उनकी बात ऐसे सुन्दर और मर्मस्पर्शी ढंग से आज तक और किसी ने नही कही। 'शेलकश' गोर्की की अनूठी कृति है। पढ़कर आप उसकी प्रशंसा किये बिना न रहेंगे।

# साहित्य-सदन के अन्य काव्य-ग्रन्थ

| श्रीमैथिलीशरणगुप्त कृत | | श्रीसियारामशरणगुप्त कृत | |
|---|---|---|---|
| भारत-भारती | १) व १॥) | मौर्य-विजय | ।) |
| जयद्रथ-वध | ॥) व १) | अनाथ | ।) |
| रंग में भंग | ।) | आर्द्रा | १) |
| शकुन्तला | ।=) | विषाद | ।-) |
| किसान | ।=) | **अनुवादित ग्रन्थ** | |
| पत्रावली | ।-) | पलासी का युद्ध | १॥) |
| वैतालिक | ।) | चित्रांगदा | ।=) |
| चंद्रहास ( नाटक ) | ।।।) | मेघनाद-वध | ३॥) |
| तिलोत्तमा ,, | ॥) | वीरांगना | १) |
| पंचवटी | ।=) | विरहणी व्रजाङ्गना | ।) |
| अनघ ( गीतिनाट्य ) | ।।।) | गीता रहस्य | २॥) |
| शक्ति | ।) | — | |
| स्वदेश-संगीत | ।।।) | सुमन | १) |
| त्रिपथगा ( वक-संहार, वन-वैभव, सैरंध्री, ) | १॥) | हेमला सत्ता | ।-) |
| | | रेणु | ।-) |
| हिन्दू सादा १) विशिष्ट | १।) | ... | |
| गुरुकुल | २) | ... | |
| विकट-भट | =) | ... | |

---

पता—प्रबन्धक, साहित्य-सदन, चिरगाँव ( झाँसी )